THE ECONOMIC TIMES

Date: 28-09-24

Building Bridges with Lanka and Others

ET Editorials

Sri Lanka's new president 'Comrade' Anura Kumara Dissanayake's intention of not becoming 'sandwiched' between India and China, as both countries are 'friends' and expected 'to become closer partners', has put speculation over Colombo's tilt towards Beijing to repose, if not rest. His statement does quell New Delhi's concerns about Colombo taking a pro-China line, especially given Dissanayake's ideological affinity with China — he's a self-described communist — and his party Janatha Vimukthi Peramuna's anti-India stance in the past. It underscores that competitive bargaining, which has been the region's SOP, will drive the Lankan leadership in keeping with national interest.

It's also time for New Delhi to evaluate its approach. There is no escaping the constant tug of war in the region, especially as it abuts the Indo-Pacific. Beijing may consider Washington as its only peer, but it's not blind to New Delhi's ambitions and growing global presence. As a LMIC, India's capacity to match China's economic outreach is severely limited. India must find ways to seek 'parity' in other ways.

In the region, India has always been a dependable partner. Sri Lanka knows this from its recent crises. New Delhi should emphasise how it has demonstrated time over that it's not a hegemonistic country that recognises that working together — and developing together — leveraging each other's strength will lift all boats in the neighbourhood. Building on historical and cultural ties that bind is important. But as South Asia's biggest economy, India must take the lead leveraging its economy to build mutually beneficial ties by augmenting intraregion trade, improving connectivity and energy systems. In other words, plug and play with its neighbours.

THE HINDU

Date: 28-09-24

Staying the course

The Centre and the States need to fight air pollution together.

Editorial

With the southwest monsoon drawing to a close, north India, particularly the States in the Indo-Gangetic plains, brace themselves for the annual spike in winter pollution. Earlier this week, a top functionary in the Prime Minister's Office convened a meeting with representatives from Delhi, Haryana, Punjab, Rajasthan and Uttar Pradesh, along with the heads of several ministries in Delhi. The brief was to take stock of the steps in place to prevent air quality from deteriorating catastrophically in Delhi. While pollution from vehicular emissions, road and construction dust, solid waste management, and diesel sets have over the years been counted as key sources of emissions, the burning of paddy stubble in Punjab and Haryana is known to be responsible for as much as 40% of the pollutant load during October and November. Punjab is expected to generate 19.52 million tonnes of paddy straw this year as compared to Haryana's 8 million tonnes. At the meeting, both States have committed to "eliminate" paddy stubble burning this year. To be sure, last November, the Supreme Court of India had expressly ordered that such burning completely ceases. This year, it has demanded to know from the Centre the steps that have been taken to address the problem. Whether the States can comply remains to be seen.

The harvest season of 2023 saw a 59% fall in the number of stubble-burning incidents in Punjab as compared to 2022; in Haryana it dipped by 40% but Uttar Pradesh saw a 30% rise. Despite the solutions to address the problem being known — create economic incentives as well as punitive measures to prevent straw from being burned — implementation remains a challenge. Punjab says that it hopes to manage 11.5 million tonnes of its paddy straw through in-situ (on the field) crop residue management and the rest via ex-situ methods. Similarly, Haryana will manage 3.3 million tonnes in-situ and use ex-situ methods for the remainder. In addition to this, 2 million tonnes of paddy straw would be 'co-fired' in 11 thermal power plants across the NCR region. Co-firing refers to turning the straw into pellets that can be used as a source of carbon. Experience over the years shows that several of these machines are not available to farmers when required. While using the straw in power plants has often been touted as a solution, there is no well-oiled system in place to transport straw from field to plant. The causes of the pollution crisis are multi-layered and will yield results only gradually. The States and the Centre must set aside their political differences and stay the course collectively.

दैनिक भास्कर

Date: 28-09-24

बुजुर्ग होती आबादी के लिए हम कितने तैयार हैं

संपादकीय

एसबीआई के एक अध्ययन के अनुसार भारत में जनसंख्या वृद्धि दर लगातार घटने के साथ पिछले तीन साल में आबादी की औसत आयु पांच वर्ष बढ़कर 29 वर्ष हो गई है। यानी अगर ये रफ्तार स्थिर भी रहे तो अगले पांच वर्षों में औसत आयु सांख्यिकी के सिद्धांत के मुताबिक 36 पार कर चुकी होगी। और तब हम डेमोग्राफिक डिविडेंड (युवा शक्ति का लाभ) तो छोड़िए, बढ़ते बुजुर्गों के भरण-पोषण के लिए समुचित उत्पादकता बरकरार रखने वाली शक्ति भी नहीं होंगे। जिस देश में कुपोषण अभी भी खत्म होने का नाम न रहा हो वहां वैसे भी युवाओं से उच्च स्तर के उत्पादन में शिरकत की अपेक्षा नहीं की जा सकती। डब्ल्यूएचओ की परिभाषा के अनुसार कुपोषण के कारण ऐसे बच्चों में शारीरिक ही नहीं मानसिक अक्षमता भी रहती है। भारत में सन् 2018 से डेमोग्राफिक डिविडेंड काल शुरू हुआ। अगर यह लाभ लेना था तो कुपोषण खत्म करना जरूरी था। एक तरफ बुजुर्ग बढ़ रहे हैं और दूसरी ओर कार्यबल में युवाओं की औसत उम्र की सुई अधेड़ावस्था की ओर अग्रसर है। ज्यादा से ज्यादा युवा कार्यबल का हिस्सा बनते, तो जीडीपी बढ़ती और बुजुर्गों के लिए सामाजिक सुरक्षा की योजनाएं ला सकती थी। सरकार को नए आंकड़ों का संज्ञान लेना होगा। डेमोग्राफिक डिविडेंड का काल किसी भी देश के जीवन में बस एक बार ही आता है।

दैनिक जागरण

Date: 28-09-24

कार्य-जीवन में खतरनाक असंतुलन

प्रो. गौरव वल्लभ, (लेखक एक्सएलआरआइ, जमशेदपुर में वित्त के प्रोफेसर एवं भाजपा नेता हैं)

पिछले दिनों पुणे की एक युवा सीए का काम से संबंधित तनाव के कारण निधन हो जाना कार्यस्थल पर उस उच्च दबाव की याद दिलाता है, जिसका कई युवा पेशेवरों को प्रतिदिन सामना करना पड़ता है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की हालिया रिपोर्ट से पता चला है कि भारत में 9.5 प्रतिशत से अधिक आत्महत्याएं वेतनभोगी पेशेवरों द्वारा की गईं। यह चिंताजनक है और इस पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता है। इस संकट के लिए किसी एक कारण को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि यह कार्यस्थल पर दबाव की संस्कृति से उत्पन्न हुआ है। यह सच है कि आज कारपोरेट जगत में प्रतिस्पर्धा पहले से कड़ी हो गई है। आज कंपनियां कम कार्यबल से जितना संभव हो, उतना उत्पादन करने की कोशिश कर रही हैं। इसने एक हानिकारक माहौल तैयार किया है, जो कार्यस्थल पर मानवता को लील रहा है। इसने कार्यस्थल को एक युद्धक्षेत्र में बदल दिया है, जहां व्यक्ति न केवल पदोन्नति या वेतन वृद्धि के लिए प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं, बल्कि अपनी भावनात्मक भलाई के लिए भी लड़ रहे हैं। यहां प्रतिस्पर्धा कठिन है

और युवा पेशेवर अक्सर कारपोरेट जीवन के तनाव के लिए तैयार नहीं होते। स्कूल और विश्वविद्यालय तकनीकी कौशल विकास पर तो ध्यान केंद्रित करते हैं, लेकिन व्यक्ति के व्यवहार में लचीलापन लाने और तनाव प्रबंधन की उपेक्षा करते हैं।

लंबे समय तक काम से संबंधित तनाव के कारण उत्पन्न बर्नआउट (मानसिक एवं शारीरिक थकान) का एक अन्य कारण सामाजिक अलगाव भी है। भारत में सीए या किसी अन्य व्यावसायिक पाठ्यक्रम में सफलता प्राप्त करने का दबाव अक्सर छात्रों को कालेज के अनुभव से खुद को अलग करने के लिए प्रेरित करता है। केवल अपनी पढ़ाई पर ध्यान केंद्रित करने के कारण वे कालेज जीवन से चूक जाते हैं। यह अलगाव उन्हें उच्च दबाव वाली कारपोरेट दुनिया के लिए तैयार नहीं कर पाता और उनमें आवश्यक सामाजिक और भावनात्मक कौशल की कमी रह जाती है। कारपोरेट जगत अक्सर नेतृत्व और भावनात्मक बुद्धिमत्ता के बजाय अंतिम परिणामों की उपलब्धि या तकनीकी कौशल के आधार पर प्रबंधकों को बढ़ावा देता है। इससे प्रबंधकों के पास अपनी टीमों को भावनात्मक रूप से समर्थन देने के लिए समय और कौशल की कमी रह जाती है, जिससे तनाव पैदा होता है। कार्यस्थल पर पेशेवरों की संतुष्टि इससे काफी प्रभावित होती है कि उनके वरिष्ठ उनके साथ कैसा व्यवहार करते हैं और उनकी टीम की गतिशीलता क्या है।

युवा पेशेवरों को बर्नआउट से बचने के लिए उन्हें स्वीकृति या मान्यता प्रदान करने की भी आवश्यकता है। मान्यता एक मुख्य मानवीय आवश्यकता है। इसका मौद्रिक होना जरूरी नहीं है। एक साधारण धन्यवाद नोट या सार्वजनिक स्वीकृति ही काफी हो सकती है। इसके साथ-साथ कार्य-जीवन संतुलन बनाए रखना और कंपनियों द्वारा अपने कर्मचारियों की भलाई को प्राथमिकता देने की आवश्यकता है। कारपोरेट संस्कृति में मानसिक स्वास्थ्य को लेकर नकारात्मक सोच कई कर्मचारियों को मदद मांगने से रोकता है। इसके लिए कंपनियों को एक ऐसा परिवेश बनाने की आवश्यकता है, जहां मानसिक स्वास्थ्य के बारे में खुली बातचीत को प्रोत्साहित किया जाए। इसके अतिरिक्त, तकनीकी प्रगति से प्रेरित आज की "आलवेज आन" संस्कृति ने पेशेवर और व्यक्तिगत समय के बीच की रेखा को धुंधला कर दिया है, जिससे कर्मचारियों, विशेष रूप से युवा पेशेवरों के बीच तनाव का स्तर बढ़ रहा है। पेशेवरों को बर्नआउट की समस्या से निजात दिलाने के लिए कारपोरेट जगत को काम की मात्रा के बजाय जीवन की गुणवत्ता पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। ओवरटाइम या सप्ताहांत में काम करने या व्यक्तिगत समय छोड़ने के लिए कर्मियों को पुरस्कृत करने के बजाय कंपनियों को दक्षता और संतुलन पर जोर देना चाहिए। कंपनियों को अपने कर्मियों को कार्यस्थल पर भलाई को प्राथमिकता देने, ब्रेक लेने और व्यक्तिगत समय की सीमाओं का सम्मान करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। सरकारों को भी सार्वजनिक स्वास्थ्य एजेंडे के हिस्से के रूप में कार्य-जीवन संतुलन का समर्थन करने की आवश्यकता है, क्योंकि लंबे समय तक काम करने से दीर्घकाल में मानसिक स्वास्थ्य संकट पैदा होता है और उत्पादकता कम होती है। कार्यस्थल पर उत्पादकता और खुशहाली बढ़ाने के लिए पारंपरिक 40 घंटे के कार्यसप्ताह को अपनाना एक आजमाया हुआ तरीका है। इस अवधारणा को स्वीडन जैसे देशों ने प्रभावी ढंग से लागू किया है, जिससे वहां उत्पादकता और कर्मचारियों की खुशी बढ़ी है। अध्ययन बताते हैं कि कम कार्यसप्ताह बेहतर कार्य-जीवन संतुलन को बढ़ावा देता है, तनाव के स्तर को कम करता है और मानसिक कल्याण को बढ़ावा देता है, जो लंबे

समय में उत्पादकता बढ़ाने में योगदान करते हैं। जर्मनी की प्रायोगिक चार-दिवसीय कार्यसप्ताह योजना इसका ताजा उदाहरण है। स्वीडन और जर्मनी कड़ी मेहनत के बजाय बेहतर तरीके से काम करने के फायदों पर जोर देते हैं। दोनों देश दुनिया भर में कार्यस्थल संस्कृति में बदलाव पर जोर दे रहे हैं, ताकि कारपोरेट परिणामों और कर्मचारी कल्याण को समान महत्व दिया जा सके। ये माडल उन कंपनियों और सरकारों के लिए प्रेरणास्रोत के रूप में काम कर सकते हैं, जो अधिक टिकाऊ कार्यसंस्कृति बनाना चाहते हैं और जो कर्मचारियों के दीर्घकालिक स्वास्थ्य और उत्पादकता को पहले स्थान पर रखते हैं। फ्रांस और जर्मनी जैसे देशों ने तो श्रमिकों की भलाई और स्वस्थ कार्य-जीवन संतुलन सुनिश्चित करने के लिए "डिस्कनेक्ट करने का अधिकार" कानून लागू किया है। यह कानून कर्मचारियों को काम के बाद काम से संबंधित संचार से इन्कार करने का अधिकार देता है।

कार्यस्थल पर तनाव के कारण खोया हुआ प्रत्येक जीवन यही बताता है कि कारपोरेट संस्कृति लोगों पर पैसे को, करुणा पर दक्षता को और कल्याण पर उत्पादकता को प्राथमिकता देती है। ऐसे में हमें व्यावसायिक माहौल को फिर से विकसित करने के लिए एक सहयोगात्मक प्रयास की आवश्यकता है। सरकारों को इसे सार्वजनिक स्वास्थ्य चिंता के रूप में लेना चाहिए और कानून एवं नीति में मानसिक स्वास्थ्य और कार्य-जीवन संतुलन को प्रमुख स्थान देना चाहिए। इससे पहले कि और जानें जाएं, बदलाव का समय अब आ गया है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 28-09-24

ई-कचरे की पहेली

संपादकीय

इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं के निर्माताओं ने इलेक्ट्रिक और इलेक्ट्रॉनिक कचरे के पुनर्चक्रण (रीसाइक्लिंग) और निपटान के लिए न्यूनतम मूल्य निर्धारित करने वाले केंद्र सरकार के नवीनतम मसौदा दिशानिर्देशों के खिलाफ जो शिकायतें की हैं वे एक ऐसे क्षेत्र में अव्यावहारिक ढंग से नियम थोपे जाने की ओर संकेत करती हैं जिसे तत्काल अनौपचारिक क्षेत्र से संगठित क्षेत्र में बदलने की जरूरत है। उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिकी के निर्माताओं का आरोप है कि मसौदा दिशानिर्देश में पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय के समक्ष उनके प्रतिनिधित्व की अनदेखी कर दी गई है।

नियमों के कारण उस लागत में भारी इजाफा हुआ है जो उत्पादकों को रीसाइकल करने वालों को ई-कचरे को रीसाइकल करने की अच्छी खासी कीमत चुकानी पड़ती है। उदाहरण के लिए धातुओं को रीसाइकल करने की कीमत बढ़कर 80 रुपये प्रति किलो हो गई है जबकि उत्पादक अनुबंध के मुताबिक रीसाइकल करने वालों को प्रति किलो छह से 25 रुपये तक का भुगतान करते हैं।

उत्पादकों को इलेक्ट्रॉनिकी एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय का समर्थन हासिल है और उसने अपना नजरिया हाल ही में सभी पक्षों की एक बैठक में प्रस्तुत किया। ये मसौदा नियम बताते हैं कि सरकार 2011 से ही ई-कचरे से जुड़ी प्रमुख दिक्कतों को निपटा पाने में नाकाम रही है। उसी साल ई-कचरा प्रबंधन के नियम बनाए गए थे।

भारत दक्षिण एशिया में दुनिया के सबसे अधिक ई-कचरा उत्पन्न करने वाले देशों में शामिल है और यह मोबाइल फोन, लैपटॉप, डेस्कटॉप और अन्य उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक्स उपकरणों से हर वर्ष 16 लाख टन कचरा उत्पन्न करता है। इसमें से करीब 67 फीसदी कचरा ऐसा होता है जिसमें लेड, कैडमियम, मर्करी, आर्सेनिक, एस्बेस्टॉस सहित तमाम नुकसानदायक तत्त्व शामिल होते हैं जो इस कचरे के साथ जमीन में मिल जाते हैं और न केवल आम लोगों बल्कि वनस्पतियों के लिए भी स्वास्थ्य तथा पर्यावरण संबंधी खतरे उत्पन्न करते हैं।

इस मसले का दूसरा पहलू यह है कि ई-कचरे को रीसाइकल करने का 90 फीसदी काम असंगठित क्षेत्र के लोगों द्वारा किया जाता है जो असुरक्षित हालात में अंजाम दिए जाते हैं और बच्चों से भी यह काम कराया जाता है। वर्ष 2016 में पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय ने इस समस्या को हल करने के लिए अधिक ढांचागत ई-कचरा प्रबंधन नियम प्रस्तुत किए जिन्होंने इस नियमों के दायरे में आने वाले उत्पादों की संख्या भी बढ़ाई और इनका निपटान करने वालों, विनिर्माताओं और रीसाइकल करने वालों की भूमिकाएं और कर्तव्य भी तय किए। उन्होंने विस्तारित उत्पादक जवाबदेही (ईपीआर) तय की जिसके तहत उत्पादकों को कहा गया कि वे ईपीआर के बदले अपने पूरी तरह उपयोग किए जा चुके उत्पाद वापस लें।

हालांकि इन नियमों के कारण संग्रहीत होने वाले ई-कचरे और उसके निपटान में काफी तेजी आई लेकिन उल्लंघन के लिए किसी दंडात्मक व्यवस्था के अभाव में यह आंकड़ा फिर भी कमजोर ही बना रहा। इन कमजोरियों को दूर करने की कोशिश में ई-कचरा प्रबंधन नियम 2022 ने इस कानून के तहत आने वाले उत्पादों के दायरे को विस्तृत किया और हर विनिर्माता और रीसाइकलर के लिए यह जरूरी किया कि वह केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा तैयार ऑनलाइन पोर्टल पर पंजीयन कराए।

नियमों के मुताबिक ऐसे इलेक्ट्रॉनिक कलपुर्जों के निर्माण को सीमित किया गया जिनमें लेड और मर्करी जैसे जहरीले पदार्थ अधिकतम तय सीमा से अधिक थे। ऐसे कई कानून हैं जो पर्यावरण संरक्षण पर केंद्रित हैं लेकिन उनका प्रवर्तन मुश्किल रहा है। इसके अलावा असंगठित क्षेत्र जिस कीमत पर काम करता हैवह भी संगठित क्षेत्र के कारोबारियों को इस बाजार में प्रवेश करने से हतोत्साहित करती है।

कुछ अनुमानों के अनुसार देश में ई-कचरे का उत्पादन सालाना 30 फीसदी की दर से बढ़ रहा है जबकि कुछ अन्य अनुमानों के मुताबिक समुचित रिसाइक्लिंग सुविधाएं विकसित करने के लिए जरूरी फंड के 20 फीसदी से भी कम का आवंटन किया जा रहा है।

ई-कचरे के निपटान और रीसाइक्लिंग को अधिक व्यवहार्य बनाने के सार्थक उपाय आने के बाद भी इस कारोबार की प्रकृति बदलती नहीं दिखती। यह देखते हुए कि इस क्षेत्र में 10 लाख से अधिक लोग काम करते हैं, सरकार को केवल कॉरपोरेट मुनाफे से इतर आजीविका के प्रश्न को भी ध्यान में रखना चाहिए।

जनसत्ता

Date: 28-09-24

निजीकरण बनाम कल्याणकारी राज्य

परमजीत सिंह वोहरा

निजी क्षेत्र का अनावश्यक पक्ष लेना अब बंद करना होगा। अब ऐसे आर्थिक सुधारों की नींव रखने का समय आ गया है, जिसमें 'कल्याणकारी राज्य' के लिए निजी क्षेत्र को भी बराबर का जिम्मेदार बनाया जाए। इस समय स्थितियां बड़ी विपरीत हैं। हम आर्थिक तरक्की के भ्रम में दिन-ब-दिन खुद को हांक रहे हैं। दूसरी तरफ, इस बात की स्वीकृति भी दे रहे हैं कि देश के गरीब आदमी की आय बढ़ाने के लिए एक लंबा सफर तय करना अभी बाकी है। गरीबी दूर करने के लिए आर्थिक असमानता एक मुख्य बाधा है। इन दिनों एक अजीब द्वंद्व या छलावा भी दिखता है, जब कल्याणकारी राज्य की जिम्मेदारी के साथ-साथ सरकारों द्वारा अपने चुनावी वादों को पूरा करने के लिए सामाजिक कल्याण को आर्थिक नीतियों में ज्यादा तरजीह दी जा रही है। इससे आर्थिक विकास पर बहुत विपरीत असर पड़ रहा है। राजनीतिक दलों के चुनावी घोषणापत्रों में वह सब कुछ शामिल हो रहा है, जो लोकलुभावन अधिक है, सर्वहित के लिए कम कल्याणकारी है।इससे राज्यों पर आर्थिक दबाव लगातार बढ़ रहा है।

नब्बे के दशक में उदारीकरण से निजी क्षेत्र को आगे बढ़ने का मौका मिला, पर अब समय आ गया है कि कल्याणकारी राज्य और सामाजिक कल्याण दोनों का मिश्रण गरीबी दूर करने के लिए एक मुख्य उद्देश्य के तौर पर आर्थिक नीतियों में जगह ले और उसके संचालन की जिम्मेदारी सरकारों के साथ-साथ निजी क्षेत्र भी उठाए। भारत में कभी आर्थिक नीतियों में निजी क्षेत्र को एकाधिकार नहीं दिया गया। आजादी के बाद से आर्थिक नीतियां सरकारी संरक्षण में ही रहीं। हालांकि आर्थिक विकास के आंकड़े इस बात की गवाही देते हैं कि सरकारी संरक्षण में बनीं, पलीं और बढ़ीं आर्थिक नीतियां, जिन्हें लोकहितकारी राज्य बनाने की सोच से देश के आर्थिक विकास को एक सुस्त वृद्धि ही मिली। इसी कारण हम विकसित मुल्कों की तुलना में पिछड़ते गए।

इन दिनों अमेरिका में आर्थिक नीतियों का विरोध हो रहा है। वहां इस बात की मांग उठ रही है कि अर्थव्यवस्था का रुख अब पूंजीवाद से समाजवाद की तरफ मुड़ना चाहिए। इसके बाद से यह चर्चा विश्व की सभी बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में भी शुरू हो गई है कि बदलाव का रुख उन्हें भी अपनाना होगा या उसमें अभी देरी

है। भारत में भी पिछले कुछ अरसे से यह सुनने को मिलता है कि देश में पूंजीपतियों की संख्या बढ़ रही है, जबकि गरीबी कम नहीं हो रही। यह कोई हैरत की बात नहीं, बल्कि पूंजीवादी आर्थिक नीतियों के चलते पैदा हुई आर्थिक विषमता का परिणाम है। समाज में पूंजीवाद का विरोध इसलिए भी जायज लगता है कि करीब सभी जगह सरकारें आर्थिक विकास की बागडोर पूरी तरह निजी क्षेत्र के हवाले कर देती हैं और कई दफा उनकी गलतियों के बावजूद उन्हें संरक्षित भी करती हैं। अमेरिका में तो यह सब बहुत आम हो गया है। 2005-06 में निजी क्षेत्र की गलत नीतियों के चलते ही अमेरिका में मंदी का सामना करना पड़ा। मगर यह सोचना भी आवश्यक है कि क्या समाजवाद के माध्यम से आर्थिक विकास को वह तेजी दी जा सकती है, जो पूंजीवाद की नीतियों से मिलती है?

आर्थिक नीतियों के सरकारी संरक्षण के दौरान भारत में 1960 से 1990 के तीन दशकों में प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि मात्र 1.6 फीसद थी। 1990 के बाद से अब तक यह 3.6 फीसद रही। वहीं वर्ष 2005 से वर्ष 2010 तक का समय आर्थिक सुधारों के कारण काफी तेजी से बढ़ने का था। इसलिए वृद्धि दर 4.3 फीसद थी और 2010 के बाद से प्रति व्यक्ति विकास दर ने अपने अधिकतम स्तर 4.9 फीसद को छुआ। गौरतलब है कि 1991 के बाद भारतीय आर्थिक नीतियों में उदारीकरण को सम्मिलित कर लिया गया था और फिर सरकारी नियंत्रण लगातार कम होता चला गया। वर्ष 1975 तक भारत, चीन और वियतनाम में प्रति व्यक्ति आय लगभग बराबर थी, पर वर्ष 2000 के बाद से चीन और वियतनाम में प्रति व्यक्ति आय 35 से 50 फीसद के बराबर बढ़ी। आज चीन में प्रति व्यक्ति आय भारत से ढाई गुना अधिक है। इसका कारण भारत में आर्थिक नीतियों में उदारीकरण को काफी देर से शामिल किया जाना रहा है और परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय भी एक समय के बाद ही बढ़ी।

अगर पूंजीवादी आर्थिक नीतियों से आर्थिक विकास तेजी से बढ़ता है, तो फिर इसका आमजन में विरोध क्यों हैं? इसके पीछे कुछ संभावित कारणों में से एक, सरकारों द्वारा निजी क्षेत्र को बहुत हद तक संरक्षित करना है। अमेरिका के संदर्भ में इसे कई दफा दिवालिया होने वाली कंपनियों को बचाने से समझा जा सकता है, तो वहीं भारत के संदर्भ में इसे व्यक्तियों की वित्तीय आय पर लगने वाला कर तुलनात्मक रूप से कंपनियों के मुनाफे पर लगने वाले कर से बहुत अधिक है। इसकी पुष्टि आर्थिक आंकड़ों से हो जाती है। वर्ष 2023-24 में भारतीय कंपनियों से मिलने वाले कर की राशि 9.3 लाख करोड़ थी, जो भारतीय अर्थव्यवस्था के जीडीपी का 3.11 फीसद था। वहीं व्यक्तिगत आयकर का संग्रह 10.22 लाख करोड़ के आसपास था, जो जीडीपी का 3.45 फीसद था। क्या इसका अर्थ है कि भारतीय कंपनियां कम मुनाफा कमा रही हैं, इसलिए वे कम कर का भुगतान कर रही है? यह एक गलत अवधारणा है।

एक ताजा आंकड़े के मुताबिक तकरीबन पैंतीस हजार भारतीय कंपनियों का कर से पूर्व का मुनाफा पिछले पांच वर्षों में करीबन 144 फीसद बढ़ा है। इसके अलावा स्टाक मार्केट में सूचीबद्ध पांच हजार कंपनियों के मुनाफे में पिछले पांच वर्षों में 186 फीसद की बढ़ोतरी हुई, जबकि उनके द्वारा दिया गया कर 35 फीसद ही बढ़ा है।

कंपनियों के कर संग्रह में जारी इस कमी के चलते ही पिछले पांच वर्षों में यह जीडीपी के 3.51 फीसद से गिर कर 3.11 फीसद पर आ गया है। वहीं व्यक्तिगत कर संग्रह 2.44 से बढ़कर 3.45 फीसद हो गया है। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि 1991 के आर्थिक सुधारों के दौर में कंपनियों पर कर की दर 45 फीसद थी, जो वर्तमान समय में घट कर मात्र आधी रह गई है। हालांकि, इसके पीछे का मुख्य कारण भारतीय कंपनियों के उत्पादों को वैश्विक बाजार में प्रतिस्पर्धात्मक कीमत पर लाना है। भारत के संदर्भ में आर्थिक नीतियों में फेरबदल को सदैव लोकतंत्र की छाया में देख कर चलना जरूरी है। मगर भारत ने कभी पूर्ण रूप से पूंजीवाद के प्रारूप को नहीं अपनाया। इसने हमेशा कल्याणकारी राज्य की छवि को बरकरार रखने की कोशिश की है। इस पक्ष पर वर्तमान राजनीति में पारस्परिक विरोधाभास बहुत अधिक है, जिससे आमजन निष्कर्ष नहीं निकाल पा रहा कि सरकार की नीतियां उनके विकास के लिए हैं या उन्हें लुभाने का एक तरीका।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 28-09-24

मुआवजे का हक

संपादकीय

सुप्रीम कोर्ट ने घरेलू हिंसा अधिनियम पर ऐतिहासिक फैसला सुनाया। शीर्ष अदालत ने कहा कि घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण कानून 2005, नागरिक संहिता है जो भारत में हर महिला पर लागू होता है। चाहे उस महिला की धार्मिक संबद्धता और सामाजिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो। शीर्ष अदालत ने भरण-पोषण और मुआवजा देने से संबंधित मामले में कर्नाटक हाई कोर्ट के आदेश को चुनौती देने वाली अपील पर फैसला सुनाया। याचिकाकर्ता महिला ने अधिनियम की धारा 12 के तहत अपील की थी जिसके पति को फरवरी, 2015 में बारह हजार रुपये मासिक और एक लाख रुपये मुआवजा देने के निर्देश दिए थे। पति की अधिनियम 25 के तहत इस आदेश में परिवर्तन की अपील को खारिज कर दिया गया था। महिला के हाई कोर्ट का दरवाजा खटखटाने पर उसकी याचिका खारिज कर दी गई। मजिस्ट्रेट को पति के आवेदन पर विचार करने को कहा गया। सुप्रीम कोर्ट की पीठ ने कहा विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए मजिस्ट्रेट को परिस्थितियों में बदलाव के कारण संतुष्ट होना होगा जिसके लिए परिवर्तन, संशोधन का आदेश पारित करने की आवश्यकता है। साथ ही, यह भी कहा कि पीड़ित अधिनियम के प्रावधानों के तहत आदेश में परिवर्तन, संशोधन या निरस्तीकरण की मांग कर सकता है। अपने समाज में घरेलू हिंसा से बहुत महिलाएं जूझती हैं। उनके साथ न सिर्फ नियंत्रणकारी पति मार-कूट, जानलेवा हमले तक करते हैं। दैहिक - यौन, भावनात्मक- मनोवैज्ञानिक दुर्व्यवहार से त्रस्त होने के बाद ही कोई स्त्री न्याय की गुहार लगाती है। याचिककर्ता नौ सालों से अपने कानूनी अधिकार के लिए

अदालती चक्कर लगा रही है। यहां सवाल केवल आदेशित भरण-पोषण राशि में वृद्धि या कमी का नहीं है, बल्कि यह देश की किसी भी महिला नागरिक को उसके हकों से वंचित करना भी है। चूंकि सरकारें अपने मुनाफे के लोभ में समुदायों या पृष्ठभूमि के आधार पर महिलाओं के भरण-पोषण और मुआवजे संबंधी कानूनों में पेंचीदगियां उत्पन्न करती रही हैं। हर महिला को यह अधिकार देकर अदालत ने घरेलू हिंसा कानून को पारदर्शी बनाने के साथ ही दूरगामी सकारात्मक परिणामों के लिए पैमाना तय कर दिया। परिवार अदालतें भी घरेलू हिंसा के मामले में इसका प्रयोग कर महिलाओं को उनका हक दिला सकेंगी। दरअसल, महिलाओं के भरण-पोषण संबंधी पेचीदे कानूनों का कार्यान्वयन अच्छे से न हो पाने से महिलाओं का संत्रास बढ़ा है।